

## बच्चों के बारे में - कुछ बेतरतीब नोट्स

□ स्वयं प्रकाश

**मैं** बच्चों के बारे में ज्यादा कुछ नहीं जानता।

जो कहते हैं कि वे जानते हैं उनकी समझ पर मुझे गहरा संदेह है।

चीजें तेजी से बदल रही हैं। पांच साल बाद किसी शहर में जाओ तो वह पहचान में नहीं आता। पांच साल बाद अपने शहर जाओ तो अपनी गली, अपना मकान भी पहचान में नहीं आता। पिताजी के दोस्त पुरानी डॉक्यूमेंट्री फिल्मों के पात्र लगते हैं और जिन गानों को सुनकर हम लड़कपन में भावुक और रोऊं-रोऊं हो जाते थे, अब हास्यास्पद लगते हैं।

तो एक बंदा - यकृत, प्लीहा, स्नायुतंत्र, आंत, फेफड़े और मस्तिष्क-हृदय आदि समस्त अवयवों से सम्पृक्त एक बंदा - जो आपसे बीस या पच्चीस साल बाद पैदा हुआ, एक बिल्कुल अलग तरह की दुनिया में- वह किस तरह सोचता है या महसूस करता है या करेगा, इसे यदि आप पूरी तरह समझ रहे हैं तो आप धन्य हैं! आपके चरण पूजे जा सकते हैं।

कम से कम मैं तो ऐसा नहीं हूं।

और सच बात तो यह है कि आप भी ऐसे नहीं हैं। आप नहीं कहेंगे, आपके बच्चों से पूछा जाए तो वे कहेंगे - 'पापा तो कुछ समझते नहीं हैं। बस अपनी-अपनी लगाते हैं।' या 'मम्मी को कुछ मालूम तो है नहीं। जाने किस जमाने की बात करती हैं।' यह

अपवाद नहीं, नियम है। आदिकाल से ऐसा ही चला आ रहा है। राम भी अपने पुत्र लव और कुश को नहीं समझ पाए थे। यशोदा को भी कान्हा की बातें समझ में नहीं आती थीं। गांधीजी भी अपने पुत्रों को नहीं समझ पाए। ऐसे ही चलता है। यही तर्कसंगत और वैज्ञानिक भी है।

फिर भी हम बच्चों को समझने का दावा करते हैं। और यही नहीं, यह भी सोचते हैं कि हम उन्हें कुछ सिखा सकते हैं। बेशक, जीवन के बुनियादी कौशल हम उन्हें सिखा सकते हैं। मसलन मां बच्चे को आबदस्त की तमीज सिखा सकती है। बाप बच्चे को भाषा के संकेत और निहितार्थ सिखा सकता है। अध्यापक विद्यार्थी को जीवनयापन के हुनर सिखा सकता है और मित्र उसे परस्पर व्यवहार, वस्तुओं और प्रकृति के साथ व्यवहार सिखा सकते हैं। लेकिन इसके बाद मां बच्चे को डरना, अपने काम से काम रखना-यानी स्वार्थी और इकलखुरा बनना-सिखाती है, बाप बच्चे को स्पर्धा, ईर्ष्या, वैमनस्य, कुटिलता और हिंसा सिखाता है और अध्यापक बच्चे का स्थापित व्यवस्था में बलात समाजीकरण करता है।

क्या यह जरूरी है ? संभव है जरूरी हो। समाज-दुनिया को समरस बनाए रखने के लिए संभव है यह जरूरी हो। लेकिन क्या ये एक समरस सामंजस्यपूर्ण समाज के स्थायी भाव हैं ? क्या इनमें से हर चीज को चुनौती नहीं दी जा सकती ? चुनौती तो मिल ही रही



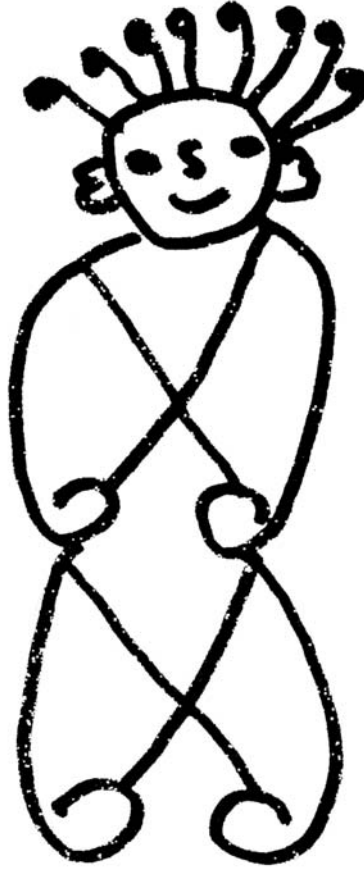
है। मां-बाप और अध्यापक के पास अक्सर इस चुनौती का कोई जवाब नहीं है तो हारकर वे परंपरा-परिपाटी-प्रथा और सभ्यता की दुहाई देते हैं। प्रश्नाकुल बच्चा अक्सर इस पर अपनी टांग फटकार देता है और 'सिखाए जा रहे' को धता बताकर आगे बढ़ जाता है और अपना रास्ता आप बनाने लगता है। हम सबने यही किया है। हर पीढ़ी करती है। नहीं करती होती तो हम आज भी आग जलाने के लिए पत्थर पर पत्थर रगड़ रहे होते।

मसलन आबदस्त ! कौन कह सकता है कि बीस साल बाद भी यह इसी तरह होगा। या मसलन भाषा - बच्चा बाप से 'भाई' शब्द का अर्थ पूछे तो बाप को क्या बताना चाहिए ? या मसलन हुनर। अध्यापक बच्चे से पूछेगा कि जरा बताना यार, हमारे मोबाइल में ये बटन काहे के लिए है ? तो अब ? अब बचा समाजीकरण। तो ले देकर सारी दुनिया के मैले कपड़े पछीटो इसी शिला पर।

कई लोगों के जीवन में 15 अगस्त 1947 न कभी आया था न कभी आया। ऐसे ही लोगों में वे तथाकथित विदेशपलट शिक्षाशास्त्री भी हैं जो आदिवासियों के बारे में भी अंग्रेजी में सोचते हैं। वे दिन रात औपचारिक शिक्षा को कोसते रहते हैं और उसमें तरह-तरह के खुच्चड़ निकालते रहते हैं। यह इतना बड़ा फैशन बन गया है कि दाद-खाज जैसी बीमारी लगने लगा है। ये लोग नहीं जानते कि अपनी हरकतों से ये सरकार को शिक्षा क्षेत्र से हाथ खींचने का कितना बड़ा आधार दे रहे हैं। इस हमारे गरीब देश में शिक्षा के निजीकरण का सीधा अर्थ है गरीब बच्चों (और खासकर बच्चियों) का शिक्षा से सर्वथा वंचित रह जाना। ये जिनके नकलची बन्दर हैं उनमें से एक-अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान- तो पहले ही फर्मा चुके हैं कि आने वाली दुनिया को शिक्षित मानव संसाधन नहीं, साक्षर मानव संसाधन की आवश्यकता है। और साक्षरता से उनका आशय बुनियादी हुनर और कम्प्यूटर साक्षरता ही है। वैसे यह भी गौरतलब है कि मनुष्य, जिसे ईश्वर का सबसे बड़ा स्वप्न कहा गया है, उसे पूंजीपति 'संसाधन'

कह रहा है, और कोई ऐतराज में हाथ नहीं उठाता।

इन विदेशपलट शिक्षाशास्त्रियों का सोचना है कि बच्चों को कुछ नहीं सिखाना चाहिए। यानी सिखाना तो चाहिए, पर इस तरह कि बच्चों को पता न चले कि उन्हें कुछ सिखाने की कोशिश की जा रही है। मुझे लगता है, दुनिया में शायद ही कोई बच्चा इतना बेवकूफ होता होगा जिसे आप सिखाएं और उसे पता न चले कि आप उसे सिखाने की कोशिश कर रहे हैं। सच यह भी है कि वह सीखना चाहता है। बुरी तरह सीखना चाहता है। सीखने के लिए आपके पीछे पड़ जाता है। आपका सिर खा जाता है। और आप उससे पीछा छुड़ाने की कोशिश करने लगते हैं।



बात यह है कि समृद्ध समाजों (एफ्लूएंट सोसायटीज) के बच्चों को मालूम है कि उनके बाप के पास इतना पैसा है कि अपनी ऐश-आराम से लबालब जिन्दगी के लिए वे तीसरी दुनिया के हाथ-पैर ही नहीं, दिमाग भी खरीद सकते हैं। उनके लिए पढ़ना और सीखना जीवन-मरण का प्रश्न नहीं, रुचि की, इच्छा की, शौक की बात है। वहां स्कूल में अध्यापक बच्चों की लल्लो-चप्पो करते रहते हैं। हर समय नाचा-कूदी चलती रहती है। और स्कूल पूरा कर चुकने के बाद भी वहां के बच्चों का सामान्य ज्ञान दयनीयता की हद तक दरिद्र होता है। वे दस संख्याओं का सामान्य जोड़ भी बगैर केलक्यूलेटर के नहीं कर सकते। कोई चीज जरा भी बिगड़ जाए तो वे उसे सिर्फ फेंक सकते हैं। उनके

कारखाने वाले यहां आकर भारत के, चीन के, कोरिया के, मलेशिया के श्रमिकों, वैज्ञानिकों, तकनीशियनों को, उनकी जुगाड़ को, नवाचार को, प्रत्युत्पन्नमति को, धीरज को, मेधा को देखते हैं तो हैरत में पड़ जाते हैं। यह मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कह रहा हूं। हालत यहां तक पहुंच गई है कि अंग्रेजों की औलादों को अंग्रेजी सिखाने के लिए भारतीय अध्यापिकाएं बुलायी जा रही हैं और वहां की परीक्षा की कॉपियां यहां जंचने आ रही हैं। वहां, जिसे वह केन्द्र कहते हैं, और इसी सादृश्य से हमें परिधि- कोई नया ज्ञान पैदा नहीं



हो रहा है। वहां सिर्फ सारी दुनिया के ज्ञान का धन्यवाद रहित और अपराधपूर्ण अपहरण हो रहा है। वहां सिर्फ वैधीकरण और अवैधीकरण हो रहा है। कोई नया साहित्य, संगीत, कला, कल्पना, दर्शन, विचार वहां पैदा नहीं हो रहा है। खेल के मैदान पर उनकी तरफ से ज्यादातर अफ्रीकी हैं और ज्ञान के मैदान पर एशियाई। वहां सिर्फ व्यापार और प्रबंधन हो रहा है।

तो न पढ़ें वहां के बच्चे ! ईस्ट इण्डिया कम्पनी में भी इंग्लैण्ड के सबसे ज्यादा ठोठ, गुण्डे, बदमाश, बिगडैल और लोफर लौंडों को इण्डिया भेजा जाता था। अच्छे घरों की लड़कियां उनसे शादी करना पसन्द नहीं करती थीं। अब कहां है वह कभी न डूबने वाला सूरज ?

लेकिन हमारे बच्चे तो कम्प्यूटर भी सीखना चाहते हैं, प्रबंधन भी सीखना चाहते हैं, भाषाएं भी सीखना चाहते हैं। बुरी तरह सीखना चाहते हैं। इसके लिए पेट काटकर पैसे भी खर्च कर रहे हैं। यह प्यास कितनी बड़ी है, औपचारिक शिक्षा के विरोधियों को इसका जरा भी अन्दाजा नहीं है।

बच्चों को बच्चा समझना सबसे बड़ा बचपना है।

अधिकांश मध्यवर्गीय बड़े यह बचपना करते रहते हैं। करते रहते हैं और पता नहीं चलता कि कर रहे हैं। अभी कुछ रोज पहले तक आशीर्वाद में ये शब्द सुनाई देते थे - 'जीते रहो, खुश रहो, जल्दी से बड़े हो जाओ, मां-बाप का नाम रोशन करो।' ( मुझे जब ऐसे आशीष मिलते थे तो मैं चक्कर में पड़ जाता था और कभी-कभी तो झुंझला भी जाता था। जीते रहो ! क्या मैं मरने की कोशिश कर रहा हूं ? क्या देश में कोई महामारी फैली हुई है ? क्या मैं किसी पहाड़ से कूद रहा हूं ? खुश रहो ! किस बात पर ? या बिना बात ? क्या कभी-कभी मैं नाराज नहीं हो सकता ? जल्दी से बड़े हो जाओ ! कैसे ? क्या यह हमारे हाथ में है ? मां-बाप का नाम रोशन करो ! क्यों ? क्या खास बात है उन नामों में ? वे सामान्य नाम हैं, जैसे हर किसी के होते हैं ! या इसका मतलब यह है - मैं अपनी मेहनत और अकल से जो कुछ भी करूंगा, उसका श्रेय मुझे पैदा करने वालों को दिया जाएगा ? वाह जी ! बड़ा कमाल किया उन्होंने ! खुद से कुछ नहीं हुआ तो मेरे माध्यम से करवा लिया !)

ऐसी ही एक और मूर्खतापूर्ण बात कुछ दिन पहले तक सब दूर सुनाई देती थी - 'मैं अपने बेटे को इंजीनियर बनाऊंगा' या 'आप अपने बच्चे को क्या बनाएंगी ?' हाय भगवान ! कैसे कोई इन्हें समझाए ?

और एक मूर्खता तो आज भी धड़ल्ले से चल रही है- मां-बाप बच्चों के लिए जीवन साथी चुन रहे हैं। ऐश्वर्य रॉय ओपराविन्फ्री शो पर गईं। शायद वह पहली भारतीय महिला थीं जिन्हें इस विश्वप्रसिद्ध शो पर जाने का मौका मिला था। उनकी सुन्दरता ने पहली नजर में ही सबको मोह लिया। लेकिन जब ओपरा ने पूछा - 'क्या यह सच है कि तुम्हारे देश में आज भी मां-बाप अपने बच्चों के लिए जीवन साथी का चुनाव करते हैं ? वे ऐसा कैसे कर सकते हैं ?' ऐश्वर्य का सारा सौन्दर्य एक मिनट में काफूर हो गया। उनके चेहरे पर एक राष्ट्रीय शर्म पुत गयी।



(क्या इन पंक्तियों को पढ़कर किसी के कान शर्म से लाल हो रहे होंगे ? नहीं, सब अपनी बेवकूफी के पक्ष में तर्क खोजने में जुट गए होंगे।)

सवाल यह है कि बच्चों को बच्चा नहीं समझें तो क्या समझें ? मेरा खयाल है, हमें उन्हें 'नन्हे नागरिक' या 'जूनियर युवा' समझना चाहिए। समय आ गया है जब हम ऐसा करना शुरू कर दें। इससे बहुत बड़ा फर्क पड़ेगा। आज का दस साल का बच्चा वह जानता है जो मैं बीस साल की उम्र में भी नहीं जानता था। मेरा सारा अनुभव, ज्ञान, बोध उसके किसी काम का नहीं जबकि बहुत-सी बातें ऐसी हैं जो वह मुझे सिखा सकता है। आज के बच्चों पर न परंपरा का कोई बोझ है, न मध्यवर्गीय आदर्शवादिता का। नैतिकता के मानदण्ड अधिकांशतः सामन्ती अतः समय बाहर हैं और पुनर्विचार की मांग करते हैं। आज के बच्चे मन के बहुत भीतर तक स्वविवेक संचालित और आत्मविश्वास से भरपूर हैं। लोकतंत्र उनकी नाड़ियों में प्रविष्ट हो चुका है। बाजार के बहकावे जरूर हैं जिनका मुकाबला पारंपरिक सदाचार से नहीं किया जा सकता। यह अनुगामियों की नहीं, खोजियों और अन्वेषियों की पीढ़ी है। मेरे पास उन्हें देने के लिए स्मृतियों की पीली पड़ती 'पाण्डु' पोथियों और पाखण्ड से बजबजाती अमानवीय परिपाटियों के अलावा कुछ नहीं है। यह पीढ़ी अतीत से जो भी चुनेगी - गीत या फैशन, कविता या इतिहास, जीवनमूल्य या प्रतिबद्धता-अपने विवेक से और अपनी धुन में ढालकर चुनेगी।

तो मैं इन्हें क्या सिखा सकता हूं ?

बेशक, शब्दों से कुछ नहीं, लेकिन आचरण से सब कुछ। जैसे एक पुत्र पिता को आत्मसात करता है और बेटा मां को ... भविष्य की दुनिया हममें जो भी त्याज्य है उसे छोड़ देगी और हममें जो भी ग्रहणयोग्य है उसे चुपके से आत्मसात कर लेगी। ◆

